

अर्थमें भूल और उसका समाधान

यों तो शब्दोंके अर्थमें कभी-कभी भूल हो जाया करती है और बादमें वह ठीक भी हो जाती है। लेकिन कोई-कोई भूल ऐसी हो जाती है जो कि परम्परामें पहुँच जाती है। फिर उसके विषयमें यह ध्यान भी नहीं होता कि भूल है या नहीं। ऐसे ही कुछ स्थलोंको यहाँपर रखता हूँ आशा है विद्वान पाठक अवश्य विचार करेंगे।

१. न्यायदीपिका

“असाधारणधर्मवचनं लक्षणमिति केचित्, तदनुपपन्नं लक्ष्यधर्मिवचनस्य लक्षणधर्मवचनेन सामानाधिकरण्याभावप्रसंगात् ।”

यह तो मुझे स्मरण नहीं कि गुरुमुखसे इसका क्या अर्थ मैंने सुना था, किन्तु उस समय मुझे इस ग्रंथकी एटा निवासी पं० खूबचन्द्र जी कृत हिन्दी-टीका देखनेका मौका मिला था, उसमें इन पंक्तियोंका जो अर्थ किया गया है वह मुझे असंगत जान पड़ा। मालूम होता है इस हिन्दी-टीकाके सहारेपर ही कम-से-कम विद्यार्थी-समाजमें तो यह अर्थ अवश्य ही माना जाता है।

हमारी जैन परीक्षाओंमें भी यह प्रश्न प्रायः पूछा जाता है और बहुधा विद्यार्थी भी इसी ढंगसे समाधान करते होंगे। अच्छा होता, यदि विद्वान परीक्षक इस अर्थके विषयमें कुछ संकेत करते, लेकिन इसपर आज तक किसीका भी ध्यान नहीं गया। अस्तु, उल्लिखित टीकामें इस प्रकार अर्थ किया गया है—

“कई मतवाले सर्वथा असाधारण धर्मको लक्षण कहते हैं, परन्तु यह उनका कहना ठीक नहीं है क्योंकि.....लक्ष्य और लक्षण दोनों एक ही अधिकरणमें रहते हैं ऐसा नियम है। यदि ऐसा न मानोगे तो घटका लक्षण पट भी मानना पड़ेगा, परन्तु प्रवादीके माने हुए लक्षणके अनुसार लक्ष्य तथा लक्षण (का) रहना एक ही अधिकरणमें नहीं बन सकता, क्योंकि उसके मतानुसार लक्षण लक्ष्यमें रहता है और लक्ष्य अपने अवयवोंमें रहता है। जैसे पृथिवीका लक्षण गंध है वह गंध पृथिवीमें रहता है और पृथिवी अपने अवयवोंमें रहती है इसलिये इस लक्षणमें असंभव दोष आता है।”

१. यहाँपर टीकाकारने लक्ष्य और लक्षणके विषयमें एक अधिकरणका नियम मानकर उस नियमके अभावमें जो जो यह आपत्ति दी है कि घटका लक्षण पट भी मानना पड़ेगा, वह ठीक नहीं, कारण कि दूध और जल ये दोनों पदार्थ एक पात्रमें रखे जा सकते हैं तो उस अवस्थामें दूध और जलमें परस्परके लक्ष्य लक्षणभावकी आपत्ति एक अधिकरणके माननेपर भी बनी रहती है। रस और रूप तो सर्वदा एक ही अधिकरणमें रहते हैं, इसलिये इनमें तो यह आपत्ति स्पष्ट ही है।

२. स्वयं न्यायदीपिकाकारने भी लक्ष्य और लक्षणका एक अधिकरण स्वीकार नहीं किया है, अग्निका लक्षण उष्णपना और देवदत्तका लक्षण दण्ड इन दोनों लक्षणोंमें लक्ष्य और लक्षणका एक आधार कोई भी विद्वान स्वीकार नहीं करेगा।

३. आगे चलकर जो यह लिखा है कि “नैयायिकके मतानुसार लक्षण लक्ष्यमें रहता है और लक्ष्य अपने अवयवोंमें रहता है”, यह लिखना भी ठीक नहीं, कारण एक तो लक्ष्य और लक्षणकी एकाधिकरणता लक्ष्य-लक्षणभावकी नियामक नहीं, जबकि लक्ष्य सर्वदा लक्षणका आधार ही रहता है। दूसरी बात यह है कि नैयायिकके मतानुसार गुणका लक्षण तो गुणमें रहता है और गुण द्रव्यमें रहता है न कि अपने अवयवोंमें,

तब हम यह कैसे कह सकते हैं कि नैयायिकके मतानुसार लक्षण लक्ष्यमें रहता है और लक्ष्य अपने अवयवोंमें रहता है। यद्यपि द्रव्यकी अपेक्षासे यह कथन सम्मत कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ पर लक्ष्य-लक्षणभावका सामान्य कथन होनेके कारण ऐसा लिखना समालोच्य अवश्य है।

अब मैं पाठकोंके सामने उस अर्थको रखता हूँ जो संगत मालूम होता है। वचनका अर्थ वाक्य या शब्द होता है। लक्षणके कथनमें दो वाक्य होते हैं—१. लक्ष्यवाक्य, २. लक्षणवाक्य। नैयायिक असाधारण-धर्मवचनको लक्षण मानता है, इसलिये उसके अनुसार जब लक्षण धर्मवचन हुआ तो लक्ष्यको धर्मवचन मानना होगा, कारण किसी पदार्थका आसाधारणधर्म जब उस पदार्थका लक्षण माना जाता है तो लक्ष्यपदार्थ धर्मरूप ही सिद्ध होता है।

“सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्, गंधवती^१ पृथ्वी” इनमें सम्यग्ज्ञानत्व प्रमाणका और गंधवत्व या गंध पृथिवीका लक्षण है इसलिये ‘सम्यग्ज्ञानं’ और ‘गंधवती’ ये दोनों वचन लक्षणवचन हैं और ‘प्रमाणं’ तथा ‘पृथिवी’ ये दोनों लक्ष्यवचन हैं। यहाँपर सम्यग्ज्ञानपदवाच्य जो वस्तु है वही प्रमाणपदवाच्य है तथा गंधवतीपदवाच्य जो वस्तु है वही पृथिवीपदवाच्य है। इस प्रकार लक्ष्यवचन और लक्षणवचनका सामानाधिकरण्य मानना पड़ता है, कारण बिना सामानाधिकरण्यके समानविभक्तिक प्रयोग नहीं हो सकते।

भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तवाले शब्दोंको एक अर्थमें वृत्तिको सामानाधिकरण्य कहते हैं। यहाँ पर वृत्तिका अर्थ सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध शब्द और अर्थका वाच्य-वाचकभावरूप माना गया है। “सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं” इसमें ‘सम्यग्ज्ञानं’ इस लक्षणवचनका प्रवृत्तिनिमित्त सम्यग्ज्ञानत्व है, ‘प्रमाणं’ इस लक्ष्यवचनका प्रवृत्तिनिमित्त प्रमाणत्व है। इस तरह भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तवाले ये दोनों शब्द एक ही अर्थके बोधक हैं अर्थात् सम्यग्ज्ञान-शब्दसे जिस अर्थका बोध होता है वही अर्थ प्रमाणशब्दसे जाना जाता है, कारण कि जो वस्तु सम्यग्ज्ञान है वही तो प्रमाण है। इसी प्रकार गन्धवत्वप्रवृत्तिनिमित्तवाले गन्धवतीशब्दसे जिस अर्थका बोध होता है वही अर्थ पृथिवीत्वप्रवृत्तिनिमित्तवाले पृथिवीशब्दसे जाना जाता है, कारण जो पदार्थ गन्धवान् है वही तो पृथिवी है। इस तरह लक्ष्यवचन और लक्षणवचन एक ही अर्थके प्रतिपादक होनेसे वे सामानाधिकरण्य सिद्ध होते हैं। नैयायिकके मतानुसार लक्ष्यवचन धर्मवचनरूप और लक्षणवचन धर्मवचन रूप ही सिद्ध होते हैं। लेकिन धर्मवचन और धर्मवचन कभी भी एक अर्थके प्रतिपादक नहीं होते हैं—धर्मवचन धर्मका ही प्रतिपादन करता है और धर्मवचन धर्मोंका ही प्रतिपादन करता है, इसलिये इन दोनोंमें एकार्थप्रतिपादनरूप सामानाधिकरण्यका अभाव प्राप्त होता है, वह उचित नहीं कहा जा सकता है, कारण कि लक्ष्यवचन और लक्षणवचनमें सामानाधिकरण्य “सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं, गन्धवती पृथ्वी” इत्यादि स्थलोंमें माना गया है, इसलिये नैयायिकके द्वारा माना हुआ लक्षणका लक्षण ठीक नहीं है। उसमें असम्भव दोष आता है।

२. आत्मपरीक्षा

“स्यान्मतं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवद्रव्याणि । द्रव्यपदस्यार्थ इति (चेत्), कथमेको द्रव्यपदार्थः ? सामान्यसंज्ञाभिधानादिति चेन्न सामान्यसंज्ञायाः सामान्यवद्विषयत्वात् । तदर्थस्य सामान्यपदार्थत्वे ततो विशेष्वप्रवृत्तिप्रसंगात्; द्रव्यपदार्थस्यैकस्यासिद्धेश्च” (पृष्ठ ४, पुराना संस्करण)।

१. नैयायिक मतानुसार।

२. भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम् ।

—सिद्धान्तकौमुदी व्याकरण, न्या० त० बोधनी टीका ।

बहुधा विद्यालयोंमें इस स्थलपर “सामान्यविषयत्वात्” के स्थानमें ‘सामान्यविषयत्वात्’ ऐसा पाठ सुधार दिया जाता है तथा अभी इस ग्रन्थका नवीन संस्करण कठनेराजीने निकाला है। उसमें तो “वत्” शब्दको बिलकुल निकाल दिया गया है। मेरी समझसे संशोधकोंका कर्तव्य होना चाहिये कि वे जिस पाठको अशुद्ध समझें उसका पाठान्तर कर दें, यह रीति बहुत ही आदरणीय मानी जा सकती है क्योंकि कहीं-कहींपर शुद्ध पाठको अशुद्ध समझ कर निकाल देनेमें शुद्ध पाठकी खोजके लिये बहुत कठिनाई उठाना पड़ती है।

ऊपर लिखा पाठ ही शुद्ध है। अभी तक जो हमारे विद्वान ‘वत्’ शब्दको निकालकर अर्थ करते आ रहे हैं वह अशुद्ध है। इसका विचार करनेके लिये इस स्थलका अर्थ यहाँ लिखा जाता है।

यहाँपर वादी वैशेषिक द्रव्यपदार्थको एक सिद्ध करना चाहता है। लेकिन वह पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन इन नवको द्रव्यपदका अर्थ स्वीकार करता है, इसलिये उससे प्रश्न किया गया है कि जब तुम द्रव्यपदके नव (नौ) अर्थ मानते हो तो एक द्रव्यपदार्थ कैसे सिद्ध होगा? इसके उत्तरमें वह कहता है कि ‘द्रव्य’ यह पद नौकी सामान्यसंज्ञा है। वह समझता है कि सामान्यसंज्ञाका वाच्य सामान्य ही हो सकता है, इसलिये द्रव्यपदका सामान्यरूप एक अर्थ सिद्ध होनेमें कोई बाधा नहीं हो सकती है। इसपर ग्रन्थकारने निम्न प्रकार बाधायें उपस्थित की हैं—

(१) सामान्यसंज्ञाका सामान्य विषय (वाच्य) नहीं होकर सामान्यवान् विषय होता है क्योंकि जिस शब्दके श्रवणसे जिस पदार्थमें लोगोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है उस शब्दका वही अर्थ माना जाता है। “द्रव्य-मानय”, “द्रव्यं पश्य” इत्यादि वाक्योंसे पृथिवी, जल आदि विशेषमें ही आनयन व देखनेरूप मनुष्योंकी प्रवृत्ति देखी जाती है, द्रव्यत्वसामान्यमें नहीं; इसलिये द्रव्यपदके द्रव्यत्वसामान्यवान् पृथिवी, जल आदि विशेष नौ पदार्थ ही अर्थ सिद्ध होंगे, एक सामान्यपदार्थ नहीं।

(२) यदि द्रव्यपदका द्रव्यत्वसामान्य ही अर्थ माना जाय तो द्रव्यपदके श्रवणसे पृथिवी, जल आदि विशेषमें मनुष्योंकी प्रवृत्ति नहीं होना चाहिये, लेकिन होती है, इसलिये द्रव्यपदका द्रव्यत्वसामान्य अर्थ युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता है।

(३) किसी तरहसे द्रव्यत्वसामान्य अर्थ मान भी लिया जाय, तो भी द्रव्यपदार्थ एक सिद्ध न होगा। इसका कारण ग्रन्थमें इस स्थलके आगे स्पष्ट किया गया है, यहाँपर उपयोगी न होनेसे नहीं लिखा है।

मुझे आशा है कि अब अवश्य ही इन स्थलोंके अर्थमें सुधार किया जायगा और यदि मेरे लिखनेमें कोई त्रुटि होगी तो विद्वान पाठक मुझे अवश्य ही सूचित करेंगे।

इस लेखपर स्व० पं० महेन्द्रकुमार जी जैन न्यायतीर्थ न्यायाध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय काशीने अपना अभिप्राय निम्न रूपमें प्रकट किया था।

जैन मित्र(४ मई १९३३) में भाई बंशीधरजी व्याकरणाचार्यका “अर्थमें भूल” शीर्षक लेख देखा। मैं पंडितजीकी इस उपयोगी चर्चाका अभिनन्दन करता हूँ। पं० खूबचन्द्रजी कृत न्यायदीपिकाकी हिन्दी टीका तथा पं० जीके अर्थका मिलान किया। इस विषयमें मेरे विचार निम्न प्रकार हैं—

न्यायदीपिकाकारने लक्षणके दो भेद किये हैं—(१) आत्मभूत, (२) अनात्मभूत। अनात्मभूतलक्षणमें सामानाधिकरण्य होना जरूरी नहीं, क्योंकि वह लक्षण वस्तुस्वरूपमें मिला हुआ नहीं होता, भिन्न पदार्थ ही

इसमें लक्षक होता है। 'दण्डः पुरुषस्य' इस लक्षणमें यदि एकाधारवृत्तित्वलक्षण सामानाधिकरण्य नहीं है तो एकार्थप्रतिपादकत्वलक्षण सामानाधिकरण्य भी नहीं है। जिस तरह 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाण', इस लक्षणमें भी जो सम्यग्ज्ञानपदवाच्य है वही तो प्रमाणपदवाच्य है या जो प्रमाणपदवाच्य है वही तो सम्यग्ज्ञानपदवाच्य है ऐसा एकार्थप्रतिपादकत्वेन सामानाधिकरण्य होता है वैसे 'दण्डःपुरुषस्य' यहाँपर "जो पुरुषपदवाच्य है वही दण्डवत्वपदवाच्य है या जो दण्डवत्वपदवाच्य है वही पुरुषपदवाच्य" ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि दण्डवत्त्वाभावमें भी पुरुष और पुरुषाभावमें भी दण्डवत्व हो सकता है। परन्तु आत्मभूतलक्षणमें सामानाधिकरण्य होना अत्यावश्यक है। वह सामानाधिकरण्य यदि एकार्थप्रतिपादकत्वेन हो सकता है तो एकाधारवृत्तित्वेन होनेमें कोई बाधा नहीं है क्योंकि आत्मभूतलक्षण वस्तुस्वरूपात्मक होता है। स्वरूपसे कथंचित्तादात्म्य रखनेवाली वस्तुओंमें भिन्नाधिकरणता संभव ही नहीं है अन्यथा स्वरूप-स्वरूपवद्भाव ही न हो सकेगा।

यह आपत्ति भी ठीक नहीं है कि दूध और जलमें एक भाजनवृत्तित्वेन सामानाधिकरण्य एवं रूप और रसमें अभिन्नद्रव्याधारतया सामानाधिकरण्य जब है तो लक्ष्यलक्षणभाव होना चाहिये, क्योंकि लक्ष्यलक्षणभाव व्याप्य है सामानाधिकरण्य व्यापक; इसलिये जहाँ-जहाँ लक्ष्यलक्षणभाव (आत्मभूतीय) होगा वहाँ-वहाँपर सामानाधिकरण्य अवश्य होगा, किन्तु सामानाधिकरण्य होनेपर लक्ष्यलक्षणभाव होना जरूरी नहीं है।

'अग्नेरौष्ण्यं' यहाँपर एकाधिकरण है क्योंकि जो औष्ण्यका आधार है वही तो अग्निका है कथंचित्तादात्म्य होनेसे भिन्नाधिकरणता कदापि सम्भव नहीं, अन्यथा गुणगुणिभावका लोप हो जायगा। नैयायिकके यहाँ द्रव्य, गुण, कर्म आदि स्वतंत्र पदार्थ हैं। इनमें समवायसम्बन्ध होता है कथंचित् तादात्म्यसम्बन्ध उसने माना नहीं है। इसलिये उसके यहाँ द्रव्यका लक्षण द्रव्यमें रहेगा तो द्रव्य अपने अवयवोंमें, इस तरह भिन्नाधिकरणता, गुणका लक्षण गुणमें, गुण द्रव्यमें इस तरह भिन्नाधिकरणता, कर्मका लक्षण कर्ममें, कर्म द्रव्यमें इस तरह भिन्नाधिकरणता सर्वत्र बनी रहती है, इसलिये असम्भवदोष बाधितलक्ष्यवृत्ति होनेसे आ जाता है।

न्यायदीपिकाकारने आत्मभूतलक्षणको जो पृथक् किया है उसका अन्तरंगकारण सामानाधिकरण्यकी आवश्यकता ही है। आशा है कि इस ग्रन्थको लगाते समय इन बातोंका ध्यान अवश्य रखा जायगा।

जैनमित्र, ता० ८ जून सन् १९३३, अंक ३२ वर्ष ३४ में प्रकाशित।

इसका उत्तर हमने निम्नलिखित दिया।

बन्धुवर पं० महेन्द्रकुमारजो न्यायतीर्थ न्यायाध्यापक स्या० महाविद्यालय काशीने मेरे द्वारा किये गये न्यायदीपिकाके अर्थमें मतभेद दिखलाते हुए कुछ विचार प्रकट किये हैं।

पं० जीका आशय है कि "आत्मभूतलक्षणमें सामानाधिकरण्य होना आवश्यक है वह एकार्थप्रतिपादकत्वरूप या एकाधारवृत्तित्वरूप हो सकता है। अनात्मभूतलक्षणमें सामानाधिकरण्य आवश्यक नहीं, चाहे वह एकार्थप्रतिपादकत्वरूप हो या एकाधारवृत्तित्वरूप हो।"

यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि एकार्थप्रतिपादकत्वरूप सामानाधिकरण्य शब्दवृत्ति है, इसलिये वह लक्ष्यवचन और लक्षणवचनमें रहेगा, एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्य अर्थवृत्ति है, इसलिये वह लक्ष्यवस्तु और लक्षणवस्तुमें पाया जायगा।

मेरा खयाल है कि आत्मभूतलक्षणमें भी अनात्मभूतलक्षणकी तरह लक्ष्य और लक्षण वस्तुओंमें एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्यका सद्भाव अथवा उसका ज्ञान लक्ष्यलक्षणभावका प्रयोजक नहीं, यदि माना जाय तो नैयायिकको कभी भी गन्धवतीशब्दसे पृथ्वीका भान नहीं होना चाहिये, क्योंकि गंध और पृथ्वीका एक आधार नहीं होनेसे लक्ष्यलक्षणभाव नहीं बन सकता है। और तो क्या जैनी भी यदि नैयायिकके ग्रन्थोंमें गन्धवती शब्दको देखते हैं तो उसका अर्थ पृथ्वी ही करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि नैयायिकने गन्धको पृथ्वीका लक्षण स्वीकार किया है उसके यहाँ पृथ्वीका बोधक गन्धवतीशब्द लाक्षणिक है, सांकेतिक नहीं। इसलिये हम यह कैसे कह सकते हैं कि नैयायिकके यहाँ लक्ष्य और लक्षण वस्तुओंमें भिन्नाधिकरणता रहनेसे असाधारणधर्म रूप लक्षणमें असम्भव दोष आता है जबकि उसके मतानुसार हम गन्धको पृथ्वीका लक्षण स्वीकार कर लेते हैं। 'गंध पृथ्वीका लक्षण' हम (जैनी) इसलिये नहीं करते कि इसमें असंभव दोष आता है किन्तु इसलिये नहीं करते हैं कि गन्ध पृथ्वीका असाधारण धर्म नहीं है, कारण कि (जैन मान्यतानुसार) जलादिकमें भी गंध पाया जाता है। लक्षण पदार्थका ज्ञापक माना गया है। नैयायिककी मान्यतानुसार गन्ध पृथ्वीका ज्ञापक सिद्ध होता ही है; भले ही उनमें एकाधिकरण्य न हो। इसलिये इस ढंगसे असम्भव दोष बतलाना संगत नहीं कहा जा सकता है। जो लक्षण लक्ष्यमें न पाया जाय, उसको असंभवित कहते हैं, नैयायिक असाधारणधर्मको लक्षण मानता है तथा उसके यहाँ गन्ध पृथ्वीका असाधारण धर्म है अर्थात् गन्ध पृथ्वीरूप लक्ष्यमें रहता है तो यह लक्षण बाधितलक्ष्यवृत्ति कैसे हो सकता है? 'गन्धवज्जलं' यह लक्षण उसके मतसे असंभवित है क्योंकि वह बाधितलक्ष्यवृत्ति है।

जैनियोंने लक्षणके आत्मभूत और अनात्मभूत दो भेद स्वीकार किये हैं। नैयायिक इन भेदोको नहीं मानता, तब यदि वह 'गन्धवती पृथ्वी' इस लक्षणको 'दण्डी पुरुषः' की तरह अनात्मभूत स्वीकार कर ले तो फिर उसके यहाँ इस लक्षणमें असंभव दोष कैसे आ सकता है? इतने पर भी यदि एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्यके अभावसे यहाँपर असंभव दोष माना जाय तो 'दण्डी पुरुषः' इस अनात्मभूतलक्षणमें वह दोष क्यों नहीं होगा? यह बात विचारने योग्य है। दूध और जल तथा रूप और रसमें जब एकाधारवृत्तित्व है तो वहाँ पर लक्ष्य-लक्षण भावकी आपत्ति बिल्कुल स्पष्ट है। यद्यपि सामानाधिकरण्यको व्यापक और लक्ष्यलक्षणभावको व्याप्य मान लेनेसे यह आपत्ति नहीं रहती, किन्तु विचारना यह है कि ऐसा व्याप्य-व्यापकभाव संगत है या नहीं?

अनात्मभूतलक्षणमें एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्यका अभाव रहनेपर भी लक्ष्य-लक्षणभाव स्वीकार किया गया है, इसलिये लक्ष्य-लक्षणभाव सामानाधिकरण्यका व्याप्य नहीं हो सकता है। आत्मभूतीय लक्ष्य-लक्षणभाव उक्त सामानाधिकरण्यका व्याप्य है अनात्मभूतीय नहीं, इस तरहके भेदका कोई नियामक नहीं, जबकि दोनों जगह समानरूपसे लक्ष्य-लक्षणभाव पाया जाता है। आत्मभूतीय लक्ष्य-लक्षणभाव भी सामानाधिकरण्यका व्याप्य सिद्ध नहीं होता है, कारण कि जैसा एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्य रूप और रस तथा दूध और जलमें पाया जाता है वैसा अग्नि और उष्णतामें नहीं पाया जाता, इस प्रकार जब अग्नि और उष्णतामें सामानाधिकरण्यभाव ही सिद्ध होता है तो लक्ष्य-लक्षणभाव सामानाधिकरण्यका व्याप्य कैसे हो सकता है?

रूप और रस तथा दूध और जलमें सामानाधिकरण्य रहते हुए भी लक्ष्य-लक्षणभाव आप स्वीकार नहीं करते हैं। इससे सुतरां सिद्ध होता है कि लक्ष्य-लक्षणभावका प्रयोजक उक्त सामानाधिकरण्य नहीं, बल्कि दूसरा ही कोई कारण है जिससे पदार्थोंमें लक्ष्य-लक्षणभावकी कल्पना की जाती है। इसलिये आत्मभूतलक्षण-

में लक्ष्य-लक्षणभावका प्रयोजक लक्ष्य और लक्षणवस्तुओंका एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्यको मानना ठीक नहीं है। आत्मभूतलक्षणमें उक्त सामानाधिकरण्यको लक्ष्य-लक्षणभावका प्रयोजक माननेमें एक दोष यह भी है कि जब अनात्मभूतलक्षणमें भी लक्ष्यलक्षणभाव रहता है तो वहाँपर भी उसका प्रयोजक उक्त सामानाधिकरण्य भी रहना चाहिये, अन्यथा अनात्मभूतलक्षणमें लक्ष्य-लक्षणभावका अभाव मानना पड़ेगा।

यदि कहा जाय कि उक्त सामानाधिकरण्य लक्ष्य-लक्षणभावका प्रयोजक नहीं, किन्तु लक्षण ही आत्मभूतताका प्रयोजक है तो प्रथम तो लक्ष्य-लक्षणभावमें इसके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है, दूसरे लक्षणकी आत्मभूतताका भी प्रयोजक उक्त सामानाधिकरण्य नहीं है, कारण अग्निका लक्षण उष्णता है उष्णताका आधार अग्नि है, यह तो ठीक है किन्तु अग्निको स्वका भी आधार मान करके सामानाधिकरण्यकी कल्पना युक्ति और अनुभवसे विरुद्ध जान पड़ती है। तीसरे, ऐसा सामानाधिकरण्य तो अनात्मभूतलक्षणमें भी रह सकता है क्योंकि जिस पुरुषके हस्तमें जो दण्ड रहता है वही दण्ड लक्षक होता है और वह भी उसी पुरुष का, वह दण्ड दूसरे पुरुषका लक्षक नहीं, तथा दूसरा दण्ड उस पुरुषका लक्षक नहीं, ऐसी हालतमें उस दण्डका आधार वह पुरुष है—जिस तरह कि उष्णताका आधार अग्नि होता है तथा उस पुरुषको स्वका आधार मान लेना चाहिये, जिस तरह कि अग्निको स्वका आधार मान लिया गया है, इस तरहसे लक्षणके आत्मभूत और अनात्मभूत दो भेद असंगत ठहरते हैं। इसलिये एकाधारवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्य लक्षणकी आत्मभूतताका भी प्रयोजक सिद्ध नहीं होता है। लक्षणके आत्मभूत और अनात्मभूत भेदोंका प्रयोजक अपृथक्पना और पृथक्पना है। उष्णताको अग्निसे कभी भी पृथक् नहीं कर सकते, जबकि दण्ड और पुरुष दोनों पदार्थ पृथक् सिद्ध हैं।

जैनियोंने स्वरूप-स्वरूपवान तथा गुण-गुणीमें तादात्म्यसम्बन्ध माना है। तादात्म्यका अर्थ भेद और अभेद है, स्वरूपस्वरूपवद्भाव, गुणगुणिभाव भेदका नियामक है, कारण स्वरूप और स्वरूपवानमें तथा गुण और गुणीमें भेद माननेसे ही स्वरूपस्वरूपवद्भाव और गुणगुणिभावकी कल्पना हो सकती है, अभेद माननेसे अग्नि स्वरूपवान या गुणी है और उष्णता उसका स्वरूप या गुण है ऐसा भान या कथन नहीं हो सकता है। अभेद मानते इसलिये हैं कि उष्णता अग्निका ही स्वरूप है अन्यका नहीं। उष्णताको छोड़कर अग्निकी स्वतंत्र सत्ता निर्धारित नहीं कर सकते, यही तादात्म्यसम्बन्धका अभिप्राय है। उष्णताका आधार अग्नि है या उष्णता अग्निका लक्षण है, यह कथन भी भेददृष्टिसे हो हो सकता है, अभेदकी अपेक्षासे आधाराधेयभाव या लक्ष्य-लक्षणभावकी कल्पना कदापि संभव नहीं। तादात्म्य रखनेवाली वस्तुओंमें भिन्नाधिकरणता भले ही आप न माने, लेकिन उनमें एकाधिकरणता संभव नहीं, अथवा एकाधिकरणता स्वरूपस्वरूपवद्भाव, गुणगुणिभाव; आधाराधेयभाव, लक्ष्यलक्षणभाव आदिकी नियामक नहीं, यह बात स्पष्ट हो चुकी है।

अब हमको थोड़ा न्यायदीपिकाके शब्दोंपर भी ध्यान देना चाहिये। न्यायदीपिकाकारने लक्ष्यधर्मि-वचन और लक्षणधर्मवचनमें सामानाधिकरण्यके अभावका प्रसंग बतलाया है, न कि लक्ष्यवस्तु और लक्षणवस्तुमें। इसलिये वह भी सामानाधिकरण्य एकार्थप्रतिपादकत्वरूप ही हो सकता है और वह आत्मभूत एवं अनात्मभूत दोनों तरहके लक्षणवाक्योंके लक्ष्यवचन और लक्षणवचनमें समानरूपसे पाया जाता है। जिस प्रकार 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं' यहाँपर सम्यग्ज्ञानत्व प्रमाणका लक्षण है, इसलिये 'सम्यग्ज्ञानं' यह पद लक्षणवचन है और प्रमाण लक्ष्य है, इसलिये 'प्रमाणं' यह पद लक्ष्यवचन है। ये दोनों वचन एकार्थके प्रतिपादक हैं क्योंकि सम्यग्ज्ञानवस्तुको छोड़कर प्रमाण कोई दूसरी वस्तु नहीं। इसी प्रकार 'दण्डी पुरुषः' यहाँपर दण्डित्व (दण्ड)

८६ : सरस्वती-धरदपुत्र पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनन्दन-ग्रन्थ

पुरुषका लक्षण है इसलिये 'दण्डी' यह पद लक्षणवचन है और पुरुष लक्ष्य है इसलिये 'पुरुषः' यहाँपर लक्ष्य-वचन है। ये दोनों वचन भी एकार्थिके प्रतिपादक हैं क्योंकि दण्डीशब्दसे दण्डविशिष्टका बोध होता है। दण्ड-विशिष्ट यहाँपर पुरुषपदार्थ है वही पुरुषपदार्थ पुरुषपदका भी अर्थ होता है। इस तरह अनात्मभूतलक्षणमें भी लक्ष्यवचन और लक्षणवचनका एकार्थप्रतिपादकत्वरूप समानाधिकरण्य रहता ही है। जहाँ यह नहीं हो, वह लक्षण दूषित कहा जाता है। जैसे 'विषाणी पुरुषः' यहाँपर 'विषाणी' इस लक्षणवचनका विषाणविशिष्ट अर्थ होता है लेकिन पुरुषपदार्थ विषाणविशिष्ट नहीं होता, इसलिये विषाणी और पुरुषः' इन दोनों वचनोंमें एकार्थ-प्रतिपादकत्वका अभाव होनेसे यह लक्षण असंभवित कहा जाता है।

जैनमित्र, २४ अगस्त १९३३, अंक ४३ वर्ष २४

